



## प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था का आधुनिक परिपेक्ष्य में अध्ययन

कुसुम लता मौर्य<sup>1</sup>, अयोध्या नाथ त्रिपाठी<sup>2</sup>

राजनीति विज्ञान विभाग

यूएनपीजी कॉलेज

दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय

पडरौना, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, भारत

### शोध संक्षेप

किसी समाज के विकास की रूपरेखा को बहुत हद तक वहाँ की न्याय व्यवस्था प्रभावित करती है। न्यायिक व्यवस्था का हर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक समाज में अस्तित्व एवं महत्त्व रहता है चाहे वह व्यवस्था राजतंत्रीय हो लोकतंत्रीय हो या अधिनायक तंत्रीय ही क्यों न हो। जब हम प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं की भारत के चिंतक मनीषी आज से हजारों वर्ष पूर्व उन मतों सिद्धांतों, व्यवहारों को स्थापित कर चुके थे जो इतने वर्षों बाद भी हमारी आवश्यकता बनी हुई है और जो आज भी हमारे न्यायालयों को आधार प्रदान कर रहे हैं। अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारत की वर्तमान कानून प्रणाली मूल रूप से पाश्चात्य विधि पर आधारित एवं विस्तारित है, लेकिन जब हम प्राचीन धर्म शास्त्रों, वेदों, स्मृतियों आदि का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि भारत में न्याय व्यवस्था की परंपरा बहुत प्राचीन रही है। हालांकि संविधान निर्माण की परंपरा पश्चिम जगत की देन है लेकिन भारतीय संविधान का निर्माण भारतीय राजनैतिक सामाजिक परिपेक्ष्य में हुआ है न की पाश्चात्य देशों के। मनु, नारद, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, कात्यायन, कौटिल्य आदि ऐसे विधिवेत्ता व विद्वान हैं जिन्होंने इतने वर्ष पूर्व तत्कालीन समाज में प्रचलित व्यवहारों के आधार पर न्यायिक व्यवस्था पर विस्तृत विचार दिए हैं जो वर्तमान भारतीय परंपरा के भी अति निकट है।

मुख्य शब्द : न्याय व्यवस्था, धर्मशास्त्र, राजनीतिक, सामाजिक अध्ययन

### प्रस्तावना

न्याय व्यवस्था किसी भी समाज का आईना होती है अर्थात् जैसी न्याय व्यवस्था प्रचलित समाज में विद्यमान रहती है उसी के अनुरूप वहाँ की सामाजिक आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था होती है इस संबंध में पाश्चात्य विद्वान अरस्तू का कथन है की "न्याय एक राज्य का सबसे महत्वपूर्ण आधार है और कोई भी राज्य लंबे समय तक नहीं रह सकता जब तक कि वह न्याय की उपयुक्त प्रणाली पर आधारित न हो।" इस प्रकार हम देखते हैं कि एक सभ्य समाज का महत्वपूर्ण लक्षण यह भी है कि वह अपने विवाद किस प्रकार शांतिपूर्ण ढंग से निपटाते हैं, क्योंकि जहाँ शांति है वहीं प्रगति है। यदि लोगों को न्याय मिलेगा तो वे संतुष्ट रहेंगे और यदि राज्य के लोगों को न्याय नहीं मिलेगा तो वे विद्रोह करेंगे। अतः समाज में विद्रोह न पनपे इस के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका एवं उसके अधिकरण आवश्यक है जिनसे प्रत्येक व्यक्ति सबल, दुर्बल, धनी, गरीब सबको एक समान एवं त्वरित न्याय मिल सके।<sup>1</sup>



भारत की न्यायिक व्यवस्था को समझने के लिए प्राचीन धर्म शास्त्रों, वेदों, स्मृतियों के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों रिति रिवाजों व परंपराओं का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि इनके अध्ययनों से ही यह ज्ञात होगा कि भारत में ब्रिटिश शासन से पूर्व ही स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका के साथ एक उत्कृष्ट न्यायिक प्रशासन का स्वरूप विद्यमान था।

प्राचीन भारत में न्यायपालिका अपने सत्यनिष्ठता, निष्पक्षता क्षमता व स्वतंत्रता के लिए जानी जाती थी तथा प्राचीन समय से ही न्यायपालिका में शीर्ष पर मुख्य न्यायाधीश नीचे अधीनस्थ न्यायाधीशों का एक पदानुक्रम मौजूद था। इस पदानुक्रम के शीर्ष न्यायाधीशों को नीचे के न्यायालयों के निर्णयों की समीक्षा का अधिकार भी था। प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों में न्याय को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया था। राजा स्वयं कानून के अधीन होते थे। वह किसी ऐसी विधि का निर्माण नहीं कर सकते थे जो राज्यहित में न हो। न्यायाधीश न्याय करने के लिए स्वतंत्र होते थे। वे केवल कानून के अधीन होते थे। वैसे तो अंतिम निर्णय राजा का होता था, परंतु बिना न्यायाधीशों के परामर्श व मंत्रणा के एवं राजा द्वारा अपने स्तर से जांच करने के बाद ही कोई निर्णय लिया जाता था। वर्तमान भारतीय संविधान द्वारा भी न्यायपालिका को स्वतंत्रता प्रदान की गयी है। वह राज्य द्वारा बनाए गए ऐसे सभी कानूनों को अवैध कर सकती है जो नागरिकों के अधिकारों का हनन करती हैं। आज न्यायपालिका नागरिकों की सबसे बड़ी हितैषी है। आज भी न्यायपालिका में शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय है। उसके बाद राज्य न्यायालय जिला न्यायालय व ग्राम न्यायालय का एक पिरामिड है। आज भी न्यायपालिका न्यायिक समीक्षा के साथ न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार रखती है।<sup>2</sup>

अतः हम देखते हैं कि मानओ में न्याय प्राप्ति की लालसा सभ्यता के प्रादुर्भाव से ही रहा है चाहे कोई भी देश रहा हो या शासन का कोई भी स्वरूप रहा हो। न्याय की अवधारणा ही है जो सामाजिक व्यवस्था को नियंत्रित करने के साथ मानवीय गरिमा प्रदान करती है। अतः इसी को ध्यान में रखते हुए भारतीय विधिवेत्ताओं एवम राजनीतिक चिंतकों ने स्वतंत्रता के पश्चात एक स्वतंत्र न्यायपालिका का गठन किया जो हर वर्ग, धर्म सम्प्रदाय की रक्षा संविधान में वर्णित विधि के अनुसार भेदभाव रहित होकर कर सके।

अध्ययन के उद्देश्य

भारतीय न्याय प्रणाली को जानना ही इस शोध का मुख्य उद्देश्य से है। इसके लिए हमें वर्तमान न्यायिक प्रणाली के अध्ययन से पूर्व प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था का सही और सटीक अध्ययन करना आवश्यक है, क्योंकि अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय न्यायिक व्यवस्था दुनिया के प्राचीन न्याय व्यवस्थाओं में एक है। प्राचीन भारत में न्यायपालिका का स्वरूप क्या था ? कानूनों का निर्माण व क्रियान्वयन कैसे होता था ? न्याय प्रदान करने का दायित्व किसका था ? क्या वर्तमान भारत में जैसा संविधान विद्यमान है, वैसा कोई संविधान या संहिता विद्यमान थी ? इनको जानना। इसके अलावा उन प्राचीन विधिवेत्ताओं विद्वानों द्वारा लिखित पुस्तकों का अध्ययन करना जिसमें तत्कालीन न्याय से संबंधित विचार विद्यमान हैं। यह भी समझना व जानना कि प्राचीन न्याय व्यवस्था का वर्तमान न्यायिक व्यवस्था में कोई प्रासंगिकता है या नहीं इत्यादि।

साहित्य पुनरावलोकन



- 'भारतीय न्यायिक व्यवस्था एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण' में न्यायमूर्ति शांति स्वरूप धवर्न ने विचार दिया है कि विश्व की सबसे पुरानी न्यायपालिका भारत में हैं।
- मनुस्मृति के सप्तम अध्याय (पद संख्या 26-170) के प्रारंभ में राजा के प्रथम कर्तव्य की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करें।
- महाभारत में न्याय के साथ दंड व्यवस्था पर भी विचार किया गया है। अनुशासन पर्व की बारहवें अध्याय में दंड विधान पर विवेचन है। जिसके अनुसार दंडनीति के असफल हो जाने पर प्रजा की दुर्गति होना बताया गया है।
- महाभारत के शान्ति पर्व में न्याय व्यवस्था पर भीष्म के अनुसार विधि के शासन में रहने से मनुष्य सुखी रहता है उन्होंने विधि के चार स्रोत (वेद सम्मत स्रोत, आर्षस्रोत, लोक सम्मत, स्रोत संस्था सम्मत स्रोत) भी बताए हैं।
- नताशा अरोड़ा<sup>4</sup> ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था' के द्वितीय अध्याय में न्याय व दंड को अन्योन्याश्रित बताया है। इसी पुस्तक के अध्याय चार व पाँच में इन्होंने राज न्यायालय व अन्य स्थानीय न्यायालय के गठन कार्यप्रणाली व अधिकारिता पर विस्तृत विवरण दिया है।
- डॉ कुंवर बिक्रम सूर्यवंश ने अपनी पुस्तक 'भारतीय न्याय व्यवस्था का ऐतिहासिक असंतुलन' के द्वितीय अध्याय में प्राचीन नैतिक विधानों की वर्तमान में क्या उपयोगिता है इस पर विचार प्रस्तुत किए हैं तथा तृतीय अध्याय में प्राचीन एवं आधुनिक दंड व्यवस्था पर तुलनात्मक विचार दिए हैं।
- अर्थशास्त्र के अधिकरण तीन में कानून के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसी अधिकरण में राज्य प्रशासन के संचालन के लिए 20 प्रकार के कानूनों का वर्णन किया गया है।
- डॉ.कृष्ण कुमार आयुर्वेदालंकर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का संविधान तथा न्याय व्यवस्था' के अध्याय चार में प्राचीन न्यायालयों की कार्य पद्धति से संबंधित विचार दिए हैं। उन्होंने शासन के उद्भव शीर्षक के अंतर्गत वैदिक सिद्धांत, मत्स्य न्याय का सिद्धांत, देवत्व के सिद्धांत आदि पर विचार दिए साथ ही न्याय व्यवस्था के विकास से संबंधित विभिन्न धर्म शास्त्रों स्मृतियों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

## प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था

हमारी प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था ऐतिहासिक दृष्टि से वे वेदों, धर्मशास्त्रों, धर्मों, स्थानीय प्रथाओं, रीती-रिवाजों व तर्क पर आधारित थी। प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों में न्याय को राज्य के सभी कार्यों में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रत्येक राजा से यह अपेक्षा की गई कि वह ऐसे सक्षम व स्वतंत्र न्यायालय की स्थापना करें जो व्यक्ति व समाज के विरुद्ध किये गए अपराधों के प्रति उचित निर्णय ले सके। साथ ही यह भी कहा गया है कि न्यायिक कार्य को राजा स्वयं सम्पन्न करें या न्यायिक कार्यों के निर्णय व व्यवस्था के लिए राजा किसी विद्वान सुयोग्य धर्म मर्मज्ञ व्यक्तियों को नियुक्त करें। इसके साथ ये भी महत्वपूर्ण था कि न्यायालय के कार्यों व न्यायिक निर्णयों में किसी भी प्रकार का अनुचित राजकीय हस्तक्षेप न किया जाए। इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायालय द्वारा धर्म व विधि के अनुसार ही न्याय प्रदान किए जाने का प्रावधान था एवं न्याय का स्वरूप प्राकृतिक व स्वाभाविक था।

अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, स्मृतियों, महाभारत



एवं पुराणों आदि में न्यायपालिका का स्वरूप

प्राचीन राजनीति तथा धर्म से संबंधित ग्रंथों से उस युग की विधि व न्याय व्यवस्था के संगठन का विस्तृत परिचय मिलता है। बृहस्पति, कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, नारद, गौतम, वशिष्ठ आदि ऋषियों और मनीषियों ने विस्तार से विधि व न्याय व्यवस्था के संगठन पर प्रकाश डाला है। मनु ने मनुस्मृति की रचना कर मानव जीवन की नींव की बुनियाद प्रस्तुत की अध्ययनों से पता चलता है कि भारत के लगभग प्रत्येक भाग में जो दंड विधान व न्याय व्यवस्था प्रचलित है व मनु का ही देन है। मनु ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अराजकतापूर्ण समाज को समाप्त कर उनके स्थान पर राज्य की स्थापना का समर्थन किया। इस समझौते के सिद्धांत को आचार्य कौटिल्य ने भी स्वीकार किया है कि राज्य से पूर्व समाज में मत्स्य न्याय की स्थिति थी। इस व्यवस्था से तंग आकर लोगों ने मनु को अपना राजा स्वीकार किया। न्याय के लिए मनु धर्म सभा की स्थापना करता है जो कि उस समय सर्वोच्च न्यायालय हुआ करता था। धर्मसभा का प्रमुख राजा स्वयं होता था। राजा की अनुपस्थिति में राजा द्वारा नियुक्त एक विद्वान ब्राह्मण न्याय कार्य करता था। इसके अतिरिक्त तीन अन्य विद्वान पंडित होते थे। मनु ने दंड व्यवस्था में सुधारात्मक प्रतिशोध और विरोधात्मक नियमों के सिद्धांतों में समन्वय स्थापित किया है अर्थात् अपराधी जिस अनुपात में अपराध करते थे उसी अनुपात में दंड मिलता था। दंडित व्यक्ति को एक बार दंड भोगने के बाद अपराध मुक्त कर दिया जाता था।

मनुस्मृति के अनुसार दंड वर्ण व्यवस्थानुसार मिलता था अर्थात् यदि अपराधी शूद्र है तो उसे अधिक दंड भुगतना होता था और उसी अपराध के लिए ब्राह्मण को कम दंड भुगतना होता था। मनुस्मृति के अनुसार न्यायाधीश शूद्र नहीं होना चाहिए। राजा राज्य के सकुशल संचालन हेतु तीन अंगों की स्थापना करता है कार्यपालिक विधायक एवं न्यायपालिका। अंतिम निर्णय राजा द्वारा किया जाता था राजा दंड का प्रयोग समाजविरोधी तत्वों के विरुद्ध करता था। राजा स्वयं भी धर्म विधि के अधीन होते थे। वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं कर सकता था। ऐसा करने पर वह भी दंड का भागी होता था। मनुस्मृति के अनुसार विधि निर्माण के लिए एक मंत्रीपरिषद हुआ करती थी जिसकी संख्या 10 बताई गई है। राजा द्वारा प्रजा के विवादों को निपटाने के लिए समुचित विधि अपनाई जाती थी। धर्म विरुद्ध साक्ष्य देने वालों तथा मिथ्या व्यवहार करने वालों को भी दंड का प्रावधान था।

शुक्रनीति में भी न्याय कार्य के महत्त्व को स्वीकारा गया है। शुक्रनीति में कहा गया है कि न्यायिक प्रक्रिया प्रजा को धर्म का पालन करने में मदद करती है। राजा का भी कर्तव्य है कि वह विवादों का उचित निर्णय करें और प्रजा से अपने निर्णय का पालन करवाएं। शुक्रनीति में न्यायिक व्यवस्था की स्थापना के लिए राजा एवं सभा का उल्लेख है। वैसे तो राजा को संपूर्ण न्याय व्यवस्था का प्रमुख निर्णायक व सर्वोच्च अधिकारी माना गया है, लेकिन इन्होंने यह भी माना है कि राजा मनमाना निर्णय नहीं दे सकता था, सभासदों की सहमति लेनी होती थी। सहमति लिए बिना निर्णय देने पर राजा पर गंभीर दुष्परिणाम का भी उल्लेख है। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में लिखा गया ग्रंथ अर्थशास्त्र पुराणे न्यायिक और प्रशासनिक ग्रंथों में से एक है, जो अपने संवैधानिक कानूनों व नियमों के लिए प्रसिद्ध है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों (धर्मस्थलीय, कंटकशोधन) का उल्लेख किया है।



राजा ही समस्त न्यायिक संगठन का सर्वोच्च पदाधिकारी होता था। इसे कौटिल्य ने भी स्वीकारा हैं। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा ही विभिन्न स्तरों पर न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था अर्थशास्त्र में भी लिखा है कि राजा को धार्मिक कानून के अनुसार विवादों पर निर्णय करना चाहिए। इसमें कानून के चार मूल स्रोत बताये गये हैं धर्म, व्यवहार, प्रजा व न्याय। कौटिल्य के अनुसार कानून व्यवस्था राज्य के सभी व्यक्ति के लिए एक समान होना चाहिए। न्याय के अभाव में राज्य व समाज का ढांचा ही नष्ट हो जाता है। न्याय सभी के लिए सुलभ हो सके इसके लिए उन्होंने न्यायालय को शाखाओं में स्थापित करने को कहा। महाभारत में न्यायिक कार्य राजा व एक परिषद के द्वारा किया जाता था। व्यावहारिक न्याय राजा द्वारा स्वयं किया जाता था, किंतु जहाँ विधि के अर्थान्वयन व व्याख्या का प्रश्न होता था वहाँ निर्णय करने का दायित्व संस्थागत परिषद को सौंपा गया था। महाभारत में न्याय के साथ-साथ दंड व्यवस्था पर भी विशद विचार किया गया है। शान्ति पर्व में न्याय व्यवस्था पर भीष्म ने अपना मत दिया है कि विधि के साथ शासन में रहने पर मनुष्य सुखी रहता है। उनकी आस्था विधि के प्रधानता में है उन्होंने विधि के चार स्रोत भी बताए हैं -

1 वेद सम्मत स्रोत 2 आर्षस्रोत 3 लोक सम्मत स्रोत 4 संस्था सम्मत स्रोत

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी न्यायपालिका का शीर्षस्थ अधिकारी राजा को ही घोषित किया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा से यह अपेक्षा की गई है कि राजा क्रोध, लोभ जैसे कृत्य त्याग कर धर्म शास्त्रों के अनुसार नीतियों व विद्वानों के साथ बैठकर न्याय का संपादन करें। इसमें भी न्यायिक कार्य सम्पन्न कराने हेतु एक सभा का उल्लेख किया गया एवं न्यायिक प्राधिकारियों के आचरण में निर्भीकता व स्वतंत्रता को धारण करने को कहा गया है एवं धर्म विरुद्ध स्नेह, लोभ, भय के वशीभूत होकर न्यायिक कृत्य करने वाले सभासदों को दंडित किए जाने का प्रावधान भी था।

इससे स्पष्ट है कि न्याय को समाज की उन्नति विकास नैतिक मूल्यों के विकास प्रशासनिक व आर्थिक विकास हेतु आवश्यक माना जाता था तथा अन्याय शोषण हिंसा जातिवाद भेदभाव की समाप्ति व सामाजिक मूल्यों का हास होने से बचाने व सभ्य समाज के निर्माण के लिए स्वतंत्र, निष्पक्ष न्यायपालिका प्रत्येक समाज में एवं प्रत्येक समय में आवश्यक रहा है ये हमारे धर्म शास्त्रों व इतिहास दोनों में दिखता है।

प्राचीन भारतीय न्यायपालिका का वर्तमान में महत्त्व

मनुस्मृति में वर्णन है कि राजा राज्य के सकुशल संचालन हेतु तीन अंगों की स्थापना करता है कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका इसी प्रकार भारतीय संविधान में भी विधायिका कार्यपालिका व न्यायपालिका का स्पष्ट उल्लेख है तथा इनके संबंध व कार्य क्षेत्र का भी यथासंभव स्पष्ट विभाजन किया गया है। न्यायालय का स्वतंत्र रूप प्राचीन काल से स्वीकार किया जाता रहा है। कौटिल्य, शुक्र, मनु, नारद आदि लगभग सभी प्राचीन विधिवेत्ताओं ने न्याय के स्रोत के रूप में राजा को स्वीकार किया है, लेकिन सभी ने यह माना है कि राजा मनमाने तरीके से कानून का निर्माण नहीं कर सकता है, बल्कि समाज में प्रचलित रीती-रिवाजों, परंपराओं पर आधारित होना चाहिए। यही राजकीय या व्यावहारिक विधि था। कौटिल्य ने कहा है कि "जहाँ कहीं चरित्र, धर्म अथवा राजकीय विधि में विरोध हो वहाँ न्यायाधीशों को धर्म के अनुसार ही निर्णय करना चाहिए।" इसी प्रकार वर्तमान में विधायिका कानूनों का निर्माण करती है



लेकिन वो ऐसे किसी विधि का निर्माण नहीं कर सकती, जो नागरिक अधिकारों के विपरीत हो साथ ही यदि किसी कानून को लेकर मतभेद हैं तो संविधान में उल्लेखित विधि ही मान्य होता है। न्यायालयों की स्थापना में भी कौटिल्य का मत है कि किसी केंद्रीय स्थान पर स्थापित न करके अपित शाखाओं में स्थापित किया जाना चाहिये। शाखाओं में स्थापित करने से न्याय सभी के लिए सुलभ हो सकता था। यह आधुनिक न्यायालयों के क्रम जैसा प्रतीत होता है। जैसे इस समय सर्वोच्च न्यायालय उसके अधीन उच्च न्यायालय, जिला न्यायालय व ग्राम न्यायालय होता है, वैसे ही उस समय जनपद न्यायालय, संग्रहण न्यायालय, द्रोण मुख्य न्यायालय व स्थानीय न्यायालयों का क्रम मौजूद था। साथ ही उन्होंने न्यायालयों में तीन-तीन धर्मस्थों की नियुक्ति करने को कहा है। मनु ने भी एक विद्वान ब्राह्मण को न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त करने को कहा। इसके अतिरिक्त तीन अन्य पंडितों की नियुक्ति करने को कहा है। याज्ञवल्क्य ने भी न्यायपालिका का शीर्षस्थ राजा को माना है और न्यायिक कार्य संपन्न कराने हेतु सभा का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि उस समय भी खंडपीठ के रूप में सुनवाई हुआ करती थी जैसे वर्तमान न्यायालय में दो या तीन न्यायाधीशों की खंडपीठ सुनवाई करती है एवं ऐसे मामले जिनमें विधि के मौलिक प्रश्नों की व्याख्या देनी हों उसमें पांच या इससे अधिक न्यायाधीशों की पीठ द्वारा सुनवाई की जाती है, जिसे संवैधानिक पीठ कहा जाता है। महाभारत में भी कहा गया है कि व्यावहारिक न्याय राजा स्वयं कर सकता है, किंतु जहाँ विधि के अर्थान्वयन व व्याख्या का प्रश्न हो वहाँ निर्णय करने का दायित्व संस्थागत परिषद को सौंपा गया था। कौटिल्य ने दो प्रकार के न्यायालयों का वर्णन किया है धर्मस्थीय व कंटकशोधन। धर्मस्थीय न्यायालय प्रजा के बीच के विवादों जैसे धर्म विवाह, क्रयविक्रय, खेतों से संबंधित विवाद, ऋण से संबंधित विवाद, उत्तराधिकार, स्त्रीधन आदि से संबंधित होते थे। इस तरह के विवाद आज भी न्यायालय में आते हैं, जिन्हें हम सिविल विवाद कहते हैं। कंटकशोधन न्यायालय वह न्यायालय होता था जिसमें राज्य के विरुद्ध किये जाने वाले अपराध होते थे, गुप्त षड्यंत्रकारी, राज्यों के भ्रष्ट अधिकारी आदि से संबंधित होता था यह आधुनिक फौजदारी विवादों से मिलता है। कौटिल्य ने न्याय को निष्पक्ष बनाने पर ज़ोर दिया। इसके लिए गवाही को लिखे जाने का वर्णन किया। याज्ञवल्क्य के द्वारा भी यही लिखा गया है जब प्रतिवादी न्यायालय में आए तो वादी के सामने उसके द्वारा बताई गई बातें लिखनी चाहिए और उसमें वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति भी लिखना चाहिए जो वर्तमान व्यवस्था में भी विद्यमान है। नारदस्मृति के अनुसार न्यायालय में वादी द्वारा वाद की प्रस्तुति प्रतिवादी द्वारा उत्तर वाद एवं साक्ष्यों के आधार पर तथ्यों की सिद्धि अथवा असिद्धि एवं तदनुसार निर्णय भी आधुनिक न्याय प्रक्रिया के सामान विकसित था इसका ज्ञान कराते हैं। प्राचीन समय से ही सत्य की सिद्धि के लिए साक्ष्य को महत्वपूर्ण माना गया है उस समय भी आज की तरह साक्ष्य को आवश्यक माना जाता था जो दो प्रकार के थे मौलिक साक्ष्य व लिखित साक्ष्य। साक्ष्य देने से पूर्व साक्षी को सत्य बोलने की शपथ ग्रहण करनी होती थी। मनु ने पुत्र या पत्नी के सिर को स्पर्श करके शपथ करने का विधान बताया है जैसे आज के न्यायालय में गीता की शपथ लेनी होती है। वर्तमान की बात उस समय भी अगर कोई साक्षी न्यायालय में उपस्थित नहीं होता था तो वह दंड का भागी होता था। न्याय को लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर न्यायाधीश उसमें रीति रिवाजों व परंपराओं को ध्यान में रखकर समय-समय पर परिवर्तित करते थे जो आज के न्यायिक सक्रियता जैसा था। निरपराध पुरुष दंडित हो जाए तथा



अपराधी बच निकले या दंड मुक्त हो जाए इसे विचार कर एवं किसी के साथ अन्याय न हो, इसे दृष्टिगत रखते हुए न्यायाधीश व राजा अपना निर्णय सुनाने से पूर्व एक बार पुनः विवेकपूर्ण विचार करते थे उनकी यह प्रक्रिया पुनः विचार कहलाती थी। बलपूर्वक, भयपूर्वक निष्पन्न व्यवहारों पर भी पुनर्विचार की परंपरा विद्यमान थी जो आज के न्यायपालिका के अनुच्छेद 137 के अंतर्गत अपनी निर्णयों के पूर्ण विलोकन करने की शक्ति के समान थी। शुकनीति में भी आज की व्यवस्थाओं जैसे पुनर्विचार, समन, जमानत और नियोगी का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार जब हम प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि ऐसे बहुधा विधि प्राचीन समय में विद्वान थे जो आज हमारे न्यायपालिका को आधार प्रदान कर रहे हैं। इनका पर्यलोचन करके उसके गुणों को समझा जा सकता है तथा वर्तमान न्याय व्यवस्था में इसका लाभ उठाया जा सकता है।

स्वतंत्र भारत में न्यायपालिका : एक दृश्य

भारत जैसे विशाल विविध्यपूर्ण प्राचीन एवं आधुनिकता से प्रभावित समाज एवं भिन्न-भिन्न विचार रखने वाले लोग तथा विभिन्न धर्म एवं रीति-रिवाजों को मानने वाले व्यक्तियों से परिपूर्ण देश का संविधान निर्माण करना निश्चय ही दुष्कर कार्य रहा होगा लेकिन हमारे विधिवेत्ता एवं चिंतकों ने इन सब दुश्वारियों का समाधान शांतिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों से किया।

संविधान सभा ने संविधान निर्माण हेतु अनेक समितियों का निर्माण किया। इन समितियों में कार्य का बंटवारा कर दिया गया। संविधान सभा में न्यायपालिका की स्थिति के संबंध में बहुत विचार-विमर्श हुआ क्योंकि भारत में दोहरी राजनीतिक व्यवस्था विद्यमान थी। काफी विचार-विमर्श के पश्चात संसदीय प्रभुसत्ता व न्यायिक सर्वोच्चता के बीच का मार्ग अनुसरण किया गया और एकीकृत न्यायपालिका को अपनाया गया। न्यायपालिका की स्थिति के संबंध में अंबेडकर ने विधानसभा में कहा था कि हम राज्य के भीतर राज्य की रचना नहीं करना चाहते परंतु उसके साथ ही हम यह चाहते हैं कि न्यायपालिका को पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की जाए जिससे वह कार्यपालिका के भय अथवा पक्षपात के बिना कार्य कर सके। इसी संबंध में के सदानंद हेगड़े का कथन है कि हमारे संविधान के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय को अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई है। इसका गठन संविधान के एक संरक्षक के रूप में किया गया है। यह नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षक और संविधान का संतुलन चक्र है। अतः स्पष्ट है कि हमारे संविधान निर्माता न्यायपालिका को स्वतंत्र और निष्पक्ष रखना चाहते थे। साथ ही इसका भी डर था कि न्यायपालिका इतनी शक्तिशाली न हो जाए कि वह राज्य की कार्यपालिका तथा विधायिका के कार्यों व इनकी स्वायत्तता में हस्तक्षेप करे। अतः उन्होंने पृथकरण के सिद्धांत को मान्यता दी। जिसके अनुसार न्यायपालिका स्वयं कोई नियम नहीं बनाती और न ही वह कानून का क्रियान्वयन कराती है, बल्कि सबको न्याय सुनिश्चित कराना ही न्यायपालिका का कार्य है। भारतीय संविधान के भाग 5 में अनुच्छेद 124 से 147 तक उच्चतम न्यायालय के गठन, स्वतंत्रता, न्याय क्षेत्र शक्तियां, प्रक्रिया आदि का उल्लेख है।<sup>7, 8</sup>

इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे संविधान द्वारा न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है न्यायपालिका ये एक ऐसी संस्था है जिसपर लोगों का अटूट विश्वास है और लोग अपनी हर समस्या का समाधान न्यायपालिका से ही चाहते हैं।



न्यायपालिका का लोकहित वादी दृष्टिकोण : वर्तमान समय में

न्यायपालिका अपनी स्थापना से लगभग 20 वर्षों तक विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को ध्यान में रखकर निर्णय करती थी, लेकिन कुछ समय पश्चात यही कोई पिछले चार दशकों से न्यायालय के दृष्टिकोण में व्यापक बदलाव आया है। अब न्यायपालिका संविधान की व्याख्याता और नागरिकों के अधिकारों के संरक्षक होने के साथ-साथ सामाजिक हितों को संरक्षण प्रदान कर रही है। अब न्यायपालिका अपनी सीमित भूमिका के दायरे से बाहर आकर व्यापक रूप धारण कर रही है। आज सार्वजनिक जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ न्यायपालिका ने अपने कदम नहीं रखे हैं। एक अनुदारवादी न्यायालय के स्थान पर प्रगतिशील दृष्टिकोण वाले न्यायालय का रूप धारण करती जा रही है। आज न्यायपालिका जनहित अभियोगों को मान्यता देकर उन गरीब, अशिक्षित, वर्षों से जेल में बंद कैदी, महिलाओं की सुरक्षा, बच्चे, श्रमिकों, बंधुआ मजदूरों, पुलिस अत्याचार पर्यावरण संरक्षण भ्रष्टाचार आदि का निराकरण दृढ़कर सार्वजनिक हित के मानदंड प्रस्तुत कर रही है। व्यक्तियों की स्वतंत्रता, समानता, विचार, अभिव्यक्ति, संपत्ति के अधिकार, निजता का सम्मान व धर्म लेखन आदि के क्षेत्र में स्वतंत्रता प्रदान कर रही है। ब्रज भूषण बनाम दिल्ली राज्य के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन किया और कहा कि सामान्य शांतिकाल स्थिति में प्रेस को नियंत्रित करना अनुचित है। इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 21 के तहत स्वच्छ और सवस्थ पर्यावरण के अधिकार को मौलिक मानवाधिकार का दर्जा दिया है। आज कई ऐसे मामले हैं जिन्हें सरकार अनदेखा करती है तो न्यायालय आगे बढ़कर सरकार को आदेश दिया कि वह कार्यवाही करें। महिलाओं का कार्यस्थल पर उत्पीड़न का मामला, एसिड से जुड़े मामले जिसपर न्यायालय ने कदम उठाते हुए एसिड की बिक्री पर सख्त प्रतिबंध लगाना हो गर्भपात का मामला व महिलाओं को स्थायी आधार पर सेना में शामिल करने का मामला हो या यौन हिंसा का मामला हो जैसा मणिपुर दुष्कर्म मामले में देखने को मिला है कि न्यायालय ने सरकार से सवाल किया कि वह इस मामले में क्या कर रही है इस प्रकार न्यायालय ने महिलाओं से संबंधित विभिन्न विषयों पर कदम बढ़ाया। इसके अलावा न्यायालय ने कोरोना काल में लाक डाउन तोड़कर व्यक्तियों के घर जाने की कोशिशों में व्यक्तियों पर दर्ज मामले जिस पर न्यायालय का कहना था कि मामला वापस लेने पर सभी राज्य विचार करे। कोरोना काल में ही व्यक्तियों, स्त्रियों के साथ छोटे-छोटे बच्चों का पैदल दूर-दराज अपने गांव जाने पर सरकारों पर वाहन की व्यवस्था करने का निर्देश देना हो या कोरोना काल में शवों के साथ किए जा रहे खराब बर्ताव का मामला हो या कोरोना से मृत हुए मरीजों का उनके परिजनों को सूचना न देना हो इन सब पर न्यायालय ने सरकार को सख्त निर्देश दिए। इसके अलावा आज न्यायपालिका प्रगतिशील विचारधारा को सम्मान दे रही है, जो आज के युवा वर्ग से संबंधित लिव इन रिलेशनशिप का मामला हो या समलैंगिकता का मामला हो, खाप पंचायतों द्वारा ऑनर किलिंग का मामला हो या इच्छा मृत्यु का मामला। न्यायपालिका इन सब विषयों पर रूढ़िवादी विचारधारा को पीछे छोड़ते हुए नागरिकों के हित में न्याय प्रदान कर रही है। स्पष्ट है एक स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना जिस उद्देश हेतु की गई थी। न्यायालय उस पर खरी उतर रही है और लोगों को न्याय प्रदान करने का कार्य कर रही है।





## निष्कर्ष

धर्मशास्त्रों, वेदों, स्मृतियों आदि के अध्ययन से पता चलता है कि भारत में प्राचीन समय से ही न्यायिक व्यवस्था मौजूद रही है। जैसे तो भारत की प्राचीन विधि मूलतः धर्म पर आधारित थी और राजतंत्रीय शासन होने के प्रमाण मिलते हैं। जहाँ अंतिम निर्णय राजा के द्वारा होता था, लेकिन मनुस्मृति नारदस्मृति, महाभारत, अर्थशास्त्र आदि के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजा भी इस कानून के अधीन होते थे एवं धर्म की व्याख्या भी वर्तमान के संकीर्ण अर्थों में न होकर तत्कालीन समय में व्याप्त व्यापक अर्थ में होता था। उस समय विधि के निर्माण में केवल धार्मिक मान्यताओं को ही नहीं स्वीकार किया जाता था बल्कि सामाजिक नैतिक व्यवहारों, परंपराओं, रीतिरिवाजों व कर्तव्यों का समावेश होता था। प्राचीन समय का न्याय एक प्रकार से प्राकृतिक तथा स्वाभाविक था वादी तथा प्रतिवादी अपने पक्ष को स्वयं प्रस्तुत करते थे किसी वकील की जरूरत नहीं पड़ती थी तथा इससे वस्तुस्थिति का आकलन अधिक सही होता था और निर्णय भी त्वरित होता था एवं व्यय भी कम होता था विवादों के निर्णय में साक्षियों का अत्यधिक महत्त्व था प्राचीन समय में दो प्रकार के साक्ष्य प्रचलित थे मौलिक साक्ष्य एवं लिखित साक्ष्य। साक्ष्य देने से पूर्व साक्षी को सत्य कहने की शपथ ग्रहण करनी होती थी।

प्राचीन भारत की न्याय प्रणाली धर्म पर आधारित थी। इसे तत्कालीन सभी विधिवेत्ता मनीषियों और स्मृतिकारों ने स्वीकार किया है। अध्ययन से पता चलता है न्याय की अवधारणा निरंतर परिवर्तनशील रही है। यह देश काल एवम् परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रही है हो सकता है जो अतीत में अन्याय रहा हो वह वर्तमान में न्याय लगे और जो वर्तमान में न्याय लग रहा है वह अतीत में अन्याय रहा हो। अतः हम कह सकते हैं कि न्याय का कोई सार्वभौमिक सिद्धांत नहीं हो सकता जो प्रत्येक समाज द्वारा स्वीकार्य हो बल्कि न्याय का प्रयोग सामान्य रूप से किया जाता है जो पूर्वाग्रहों से बिल्कुल मुक्त हो। हम देखते हैं कि चाहे कोई भी युग रहा हो न्याय का सिद्धांत हमेशा से ही अन्याय दमन हिंसा शोषण भेदभाव जातिवाद व अस्पृश्यता के विरुद्ध रहा है। इसने गरीब निर्धन, असहाय, पिछड़े लोगों को संरक्षण प्रदान किया और उन्हें समानता, स्वतंत्रता समान भातृत्व की भावना का विकास कर सकने की परिस्थितियां प्रदान की हैं।

## संदर्भ ग्रंथ

- 1 राजेश मिश्रा, राजनीति विज्ञान : एक समग्र अध्ययन, (सातवाँ संस्करण) 2019, ओरिएंट ब्लैकस्वान
- 2 अरुण दत्त शर्मा, राजनीति विज्ञान, (तीसरा संस्करण) 2015, अरिहंत प्रकाशन
- 3 न्यायमूर्ति शांतिस्वरूप धवन भारतीय न्यायिक व्यवस्था एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण, स्मारक खंड 100 वर्ष - शताब्दी समारोह (1866-1966), वॉल्यूम 1, <http://www.allahabadhighcourt.in>
- 4 डॉ. नताशा अरोड़ा, प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था, 1990, स्वाति प्रकाशन, दिल्ली
- 5 डॉ. कुंवर विक्रम सूर्यवंश भारतीय न्याय व्यवस्था का ऐतिहासिक अनुशीलन, 2022, कला प्रकाशन
- 6 डॉ. कृष्ण कुमार आयुर्वेदालंकार प्राचीन भारत का संविधान तथा न्याय व्यवस्था, 2005, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जनकपुरी
- 7 एम. लक्ष्मीकांत, भारत की राज्य व्यवस्था, 2017, मैग्रहिल एजुकेशन इंडिया प्राइवेट लिमिटेड
- 8 बी.एल. फाड़िया और डॉ. कुलदीप फाड़िया, भारतीय शासन एवं राजनीति, (24 वां संस्करण) 2015, साहित्य भवन प्रकाशन